THE ECONOMIC TIMES

Date: 23-09-17

How to get on with women's reservation

ET Editorials

The letter written by Congress president Sonia Gandhi to the Prime Minister, asking him to pass the long-pending Women's Reservation Bill, is a clever political move, but not really a move to materialise reservation for women in legislatures. The intent is to put the Congress party's legitimate claim as the initiator of the quota Bill upfront, and deny the government full credit for such a move, if it is, indeed, inclined to pass the Bill.The fact is that while Sonia Gandhi is among those who want the Bill passed, it is not a key objective for most who give it lip support. This is for the practical reason that the way quota for women has been incorporated in the Bill rules out long-term nurturing of a constituency by any one MP, because the seat reserved for women would rotate among constituencies. The lack of enthusiasm for the Bill cuts across parties.

The most sensible way to raise women's representation in elected legislatures is for political parties to put up more women candidates in seats they are confident of winning. After the 73rd and 74th Amendments to the Constitution initiated by Rajiv Gandhi that mandated elections to rural and urban local bodies, complete with reservation of at least a third of the seats for women, a large group has emerged of women with experience of holding and running political office.This is so, even after discounting a great many women members of Panchayats who have held office as proxies for their male relations. So, there is no scarcity of potential women leaders for parties to choose from. What holds them back is age-old patriarchy.Things have progressed from the time when parties claiming to champion subaltern groups dismissed women's quota as a ploy to bring in more elite women. The Bill could well pass, if the government tried.

Date:23-09-17

Country needs innovative policy, as liquidity ebbs

ET Editorials

Friday's sell-off in India's equity markets was a reaction to the end of the longest period of easy money, in the history of the world's largest economy, the US. The Federal Reserve has taken a subtle approach to end the nine-yearold 'quantitative easing' that began in November 2009. From October this year, it will start selling bonds and absorbing dollars, leaving policy interest rates untouched.From now to 2020, the consensus in America's Federal Open Market Committee (FOMC) is this: unemployment will fall from 4.3 per cent to 4.2 per cent, inflation rise from 1.5 per cent to the Federal Reserve's target of 2 per cent and growth cool from today's breakneck 2.4 per cent to 1.8 per cent. Through this, the Federal Reserve expects to raise lending rates from 1.4 per cent to 2.9 per cent.Tighter money will achieve most of these goals but for inflation, which could go either way.As money gets tighter and rates creep up, the attraction of zero-risk US Treasury bonds will increase, compared to other assets. The glut of liquidity that has driven most equity markets to dizzy heights will run dry. India's stock market, in the face of steadily falling company margins, very little productive investment and falling growth, has been driven by liquidity. With global liquidity set to fall, so will equities.

Another worry is the effect of tighter money on India's external debt and the rupee. Between March 2016 and 2017, foreign debt fell 2.7 per cent, driven by a near-8 per cent fall in NRI borrowings as instruments matured. Corporate debt, which at 37 per cent is the largest component of foreign debt, also fell around 4 per cent in March. But a weaker rupee would raise the cost of servicing debt.But the cost of Indian companies' overseas borrowing costs will jump in rupee terms with a rise in US rates. Companies with falling margins have no appetite to invest for growth. With higher overseas interest cost, they will be in a bind if Indian banks, already saddled with bad loans, refuse to refinance foreign debt. The rupee will come under pressure, inflating import costs, but probably boosting exports. But India is a net importer and higher import costs are bound to pinch. This is the time for reform and Reserve Bank action.

बिज़नेस स्टैंडर्ड

Date: 23-09-17

बुनियादी सुधार का आधार

टी. एन. नाइनन

क्या अर्थव्यवस्था इस बात की कीमत चुका रही है कि सरकार बीते तीन साल में मूलभूत सुधार तक अपनाने में नाकाम रही? इसका जवाब हां है लेकिन साथ ही सरकार पिछली सरकारों की ढांचागत सुधारों को अंजाम न दे पाने की कमी का भी खमियाजा भुगत रही है। जिस समय हालात अच्छे चल रहे थे तब उस समय कड़े फैसले लेने चाहिए थे। इस बात से भी कौन इनकार करेगा कि भारत कई वर्षों तक बहुत बेहतर स्थिति में रहा है। मनमोहन सिंह सरकार ने बेहतर वृद्घि दर के दौर में भी सुधार के मोर्चे पर कुछ खास नहीं किया। कई मामलों में तो उसने गलत कदम भी उठाए। इसके अलावा नीतिगत निष्क्रियता के अलावा वह कई तरह के घोटालों में उलझ गई। मोदी सरकार की बात करें तो वह कड़े सुधार अपनाने के क्रम में अपनी राजनीतिक पूंजी गंवाना नहीं चाहती है। दोनों सरकारें यह दावा कर सकती हैं कि उनके कुछ कार्यक्रम सफल साबित हुए लेकिन हाल तक व्यवस्थागत बदलाव देखने को नहीं मिला है। उसकी कीमत हमें अब चुकानी पड़ रही है और वृद्घि दर में गिरावट देखने को मिल रही है। सरकारी प्रवक्ताओं और खुद प्रधानमंत्री की बात करें तो वे परिवर्तनकारी बदलाव लाने की बात करना पसंद करते हैं। वहीं उनके बारे में एक समांतर विचार यह है कि उन्होंने बड़े सुधारों के बजाय मामूली रद्दोबदल को तरजीह दी है। चूंकि कोई बड़ा बदलाव दृष्टिगोचर नहीं है इसलिए आलोचना उचित ही प्रतीत होती है।

ऐसे में उन अहम सुधारों का जिक्र अहम है जिनको अंजाम नहीं दिया गया। उत्पादन कारकों मसलन पूंजी, श्रम और बाजार की बात करें तो बाजारों के बेहतर संचालन के लिए इनमें सुधार आवश्यक है। परंतु इस मोर्चे पर केवल बातों का दोहराव हो रहा है। सरकारी बैंकों की निरंतर बनी समस्या से हम सभी परिचित हैं। अर्थव्यवस्था से परे बात करें तो न्यायिक सुधार भी बहुत अहम हैं। अदालतों में होने वाली देरी के चलते ही तमाम अनुबंधों का प्रवर्तन नहीं हो पाता है। विश्व बैंक की कारोबारी सुगमता सूची में यह भी एक पहलू है। जिन अन्य सुधारों को तत्काल अंजाम देने की आवश्यकता है, उनका संबंध आम जनता के स्वास्थ्य और स्कूली शिक्षा की गुणवत्ता से है। देश के अधिकांश राजनेता शायद इस बात से परिचित न हों कि पूर्वी एशिया की सफलता की कहानी की शुरुआत मानव संसाधन की गुणवत्ता में सुधार के साथ शुरू हुई थी। सफलता की यह कहानी कोरिया, ताइवान और चीन में लिखी गई। इस मोर्चे पर देश की निरंतर विफलता एकदम स्पष्टï है। हमें यह भी ध्यान रखना होगा कि इस मोर्चे पर तो कोई विचारधारात्मक गतिरोध भी नहीं है।

दूसरा मुद्दा है परियोजना क्रियान्वयन का। माना जा रहा था कि मोदी के आगमन के बाद इस मोर्चे पर कुछ बदलाव देखने को मिलेगा। परंतु कौशल कार्यक्रम अभी तक लडख़ड़ा रहा है। मेक इन इंडिया अभियान के आने से भी कोई उल्लेखनीय बदलाव नहीं आया है। दिल्ली-मुंबई औद्योगिक गलियारे का तो अब कोई जिक्र भी नहीं करता है। इस गलियारे का चेहरा बनने वाला धोलेरा कस्बा शायद भूमि अधिग्रहण की चिरपरिचित समस्या का शिकार हो गया है। नोटबंदी और जीएसटी दोनों के क्रियान्वयन में चूक नजर आई। इस सूची में और कई बातें जोड़ी जा सकती हैं। चूंकि

मध्यम अवधि का जमीनी कामकाज ठीक तरीके से नहीं किया गया है इसलिए कार्यक्रम क्रियान्वयन के मोर्चे पर हम पीछे हैं। इस मोर्चे पर सरकार निजी निवेश को गति देने के लिए व्यय बढ़ाने जैसे अल्पकालिक उपाय अपना रही है। यह कारगर हो सकता है बशर्ते कि इससे मांग पैदा हो और निजी क्षेत्र सक्रिय हो। क्योंकि राजकोषीय नीति का स्वरूप कुछ ऐसा होता है कि मंदी के दिनों में राजकोषीय संकुचन को अपनाना कोई समझदारी नहीं। लेकिन विस्तारवादी राजकोषीय कदम के साथ यह जोखिम जुड़ा हुआ है कि रिजर्व बैंक कहीं मुद्रास्फीति को लेकर आशंकित न हो जाए। अगर ऐसा हुआ तो मौद्रिक नीति में बदलाव आएगा। अगर ब्याज दरें बढ़ीं तो निजी क्षेत्र की गतिविधियां ठप होंगी और आर्थिक हालात पहले जैसे ही बने रहेंगे।सच तो यह है कि अल्पावधि के संकट का हल विसंगति पैदा करता है। उसे मूलभूत सुधार का विकल्प नहीं माना जा सकता। मोदी और उनकी टीम 2019 का चुनाव जीतने की उम्मीद कर रही है इसलिए उन्हें दूसरे कार्यकाल की बेहतरी की बुनियाद अभी रखनी चाहिए। दूसरे शब्दों में कहें तो सरकार को अल्पकालिक उपायों के स्थान पर अहम सुधारों पर ध्यान देना चाहिए।

Live हिन्दुस्तान .com

Date: 22-09-17

संयुक्त राष्ट्र में सुधार की राजनीति

हर्ष वी पंत

यह सितंबर का महीना है, जिसमें हर साल विश्व नेताओं की आकाशगंगा न्यूयॉर्क की धरती पर उतरती है। मौका होता है, संयुक्त राष्ट्र की सालाना महासभा का। इस साल महासभा की बैठक इसलिए भी अधिक दिलचस्प थी, क्योंकि अमेरिकी राष्ट्रपति डोनाल्ड ट्रंप इसमें पहली बार शामिल हुए थे। यह कोई छिपी हुई बात नहीं है कि दुनिया भर के तमाम नेता ट्रंप की 'अमेरिका फस्र्ट' की नीति की काट ढूंढ़ने में लगे हुए हैं; साथ-साथ व्हाइट हाउस उत्तर कोरिया और ईरान के खिलाफ जंग की दुंदुभि बजाने को तैयार तो है ही, वैश्विक व्यापार व जलवायु समझौतों से बाहर निकलने की धमकी भी देता रहता है।बहरहाल, ट्रंप प्रशासन इस साल संयुक्त राष्ट्र में सुधार को लेकर चल रहे उच्च स्तरीय प्रयासों का नेतृत्व करता हुआ दिख रहा है। 'प्रबंधन, सुरक्षा और विकास' पर हुई यूएन की बैठक में बोलते हुए अमेरिकी राष्ट्रपति ने कहा कि 'हाल के वर्षों में अपनी नौकरशाही और कुप्रबंधन के कारण संयुक्त राष्ट्र वह नहीं कर सका, जो वह कर सकता था।' हालांकि उम्मीदों के उलट ट्रंप ने यह वचन दिया कि अमेरिका संयुक्त राष्ट्र के 'कार्यों में उसका सहयोगी' बना रहेगा, ताकि यह संगठन पूरी दुनिया में और अधिक प्रभावी तरीके से शांति कायम कर सके।

ट्रंप ने महासचिव की भी सराहना की, जिन्होंने कहा है कि वह यूएन को अधिक से अधिक प्रभावी बनाने संबंधी ट्रंप के नजरिये से सहमत हैं। अमेरिका ने संयुक्त राष्ट्र में सुधार को लेकर सदस्य राष्ट्रों को एक घोषणापत्र पर हस्ताक्षर करने के लिए भी कहा, और 128 से अधिक देशों ने ऐसा किया भी। साफ है, ट्रंप की बातें उम्मीद से

कहीं अधिक सकारात्मक रहीं, खासतौर से इसे यदि यूएन की पूर्व में उनके द्वारा की गई आलोचना के संदर्भ में देखें। दरअसल, चुनावी अभियान के दौरान ट्रंप ने कहा था कि 'यूएन लोकतंत्र का हिमायती नहीं है; यह स्वतंत्रता का भी पक्षधर नहीं है; यहां तक कि अमेरिका का भी हितैषी नहीं है, जहां इसका मुख्यालय है।'संयुक्त राष्ट्र में सुधार ट्रंप प्रशासन का सबसे बड़ा एजेंडा है। यह मौटे तौर पर दो सिद्धांतों पर आधारित है- संप्रभुता और उत्तरदायित्व। अमेरिकी राष्ट्रीय सुरक्षा सलाहकार एचआर मैकमास्टर बताते हैं कि 'बिना संप्रभुता और उत्तरदायित्व के शांति व समृद्धि संभव नहीं। य तोे इसकी बुनियाद हैं। अमेरिका दूसरे देशों की संप्रभुता का सम्मान करता है और यही वह दूसरे देशों से उम्मीद भी करता है।' अमेरिका इसे लेकर भी उत्सुक है कि संयुक्त राष्ट्र की कार्य-प्रणाली और अधिक जवाबदेह व पारदर्शी बने। अमेरिका दुनिया की सबसे बड़ी अर्थव्यवस्था होने के साथ-साथ संयुक्त राष्ट्र के बजट में आर्थिक योगदान देने वाला सबसे बड़ा देश भी है। यह यूएन के नियमित काम-काज वाले बजट में 25 फीसदी का योगदान करता है, जबकि शांति-व्यवस्था यानी पीस कीपिंग के लिए अलग से बनने वाले बजट में 28 फीसदी। अमेरिका पर यूएन की इस कदर निर्भरता के पक्ष में ट्रंप प्रशासन नहीं है और वह चाहता है कि बजट का बोझ न्यायसंगत तरीके से बंटे। इस साल यूएन ने अपने पीस कीपिंग बजट में जो 60 करोड़ अमेरिकी डॉलर की कटौती की है, उसके पीछे ट्रंप प्रशासन की महत्वपूर्ण भूमिका रही है। जाहिर है, चुनौती कायम है कि संयुक्त राष्ट्र सुधारों को कैसे लागू किया जाए? संयुक्त राष्ट्र का ढांचा इस तरह बनाया गया है कि फैसले लेने की प्रक्रिया तमाम देशों में फैली है, जहां प्रतिस्पद्र्धात्मक और विरोधाभासी हित व विचार भी दिखते हैं। जैसे, सुधार को लेकर हुई बैठक में रूस और चीन शामिल नहीं हुए।जहां तक भारत की बात है, तो उसने भी यह कहा है कि संयुक्त राष्ट्र का 'व्यापक सुधार होना चाहिए, जिसमें सभी की सहभागिता सुनिश्चित हो। सचिवालय तक ही सुधार सीमित नहीं रहने चाहिए।' संयुक्त राष्ट्र में हमारे स्थाई प्रतिनिधि सैयद अकबरुद्दीन ने साफ कर दिया है कि यूएन में आमूल-चूल सुधार जरूरी है। इसमें उन मसलों को किनारे नहीं किया जा सकता, जो इसकी संस्थाओं के संचालन से जुड़े हैं। हालांकि भारत ने ट्रंप के प्रयासों का समर्थन किया है, पर उसका यह भी कहना है कि बदलते वक्त के साथ तालमेल बनाए रखने के लिए इसमें स्थाई व अस्थाई सदस्यों के विस्तार पर गौर किया जाना चाहिए।

उल्लेखनीय है कि शीत युद्ध के बाद से ही भारत संयुक्त राष्ट्र में सुधार को लेकर मुखर रहा है। हमारी कोशिश यह है कि यूएन बदलती वैश्विक तस्वीर में अधिक प्रभावी बन सके। असल में, शांति व अंतरराष्ट्रीय सुरक्षा से जुड़ी चुनौतियां अब अधिक जटिल बन गई हैं। 21वीं सदी में वैश्विक सुरक्षा से जुड़े तमाम तरह के खतरे सामने आए हैं, जिसके कारण 'अनिश्चितता' का एक भाव पैदा हो गया है। संयुक्त राष्ट्र इन मसलों से निपटने में मुश्किलों में घिरती रही है और नई दिल्ली विदेश नीति के मोर्चे पर अपनी बदलती प्राथमिकताओं के आधार पर इसके साथ काम करती रही है। भारत यूएन की पीस कीपिंग मुहिम के मददगार देशों में सबसे आगे है। पिछले छह दशकों में इसके ऐसे 71 अभियानों में से करीब 50 में हमने अपने लगभग दो लाख फौजी भेजे हैं। इसीलिए, यह कोई आश्चर्य नहीं कि संयुक्त राष्ट्र के संदिग्ध 'हस्तक्षेप करने के अधिकार' को मिलती वैश्विक सहमति को लेकर भारत चिंतित रहा है। इतना ही नहीं, भारत उन तमाम अभियानों के खतरे की ओर भी ध्यान दिलाता रहा है, जहां यूएन के झंडे के नीचे शांति सैनिकों की सुरक्षा को गंभीर खतरा था। यह सही है कि

शीत युद्ध के बाद से अंतरराष्ट्रीय कानून व्यवस्था में सुधार के प्रयास किए गए हैं, मगर भारत और कुछ अन्य बड़े गैर-पश्चिमी मुल्क ऐसी कोशिशों को लेकर संतुष्ट नहीं हैं। उनका मानना रहा है कि इस तरह के सुधारों से कुछ खास देशों को दखल का विशेषाधिकार मिल जाएगा, जो नैतिक रूप से सही नहीं होगा। इसीलिए माना यही जा रहा है कि ट्रंप सरकार ने जिस 'संप्रभुता' की बात कही है, उसका नई दिल्ली भी स्वागत करेगी। हालांकि सुरक्षा परिषद में जगह पाने के लिए भारत की कोशिश जारी है, इसलिए अच्छा यही होगा कि संयुक्त राष्ट्र को अधिक से अधिक प्रभावी बनाने के लिए वह नए रास्ते गढ़े। फिलहाल भारत को जरूरत अपने संकीर्ण राष्ट्रीय हितों और अपनी जिम्मेदारी (वैश्विक शांति व स्थिरता को बनाए रखने में मददगार एक उभरती ताकत) के बीच संतुलन साधने की है।

The Indian EXPRESS
JOURNALISM OF COURAGE

Date: 22-09-17

The missing jobs

Government must focus on basic education and let the market take care of skilling the workforce

Not even a tenth of the 30.67 lakh youth who had received or were undergoing training under the Pradhan Mantri Kaushal Vikas Yojana (PMKVY) as on early-July have obtained job placement offers, according to a report in this newspaper. The percentage could be even lower if actual placements, as opposed to offers, are taken. So, can this be seen as a failure of the Narendra Modi government's flagship skills training and certification scheme? Jobs are not simply a function of the country's workforce acquiring formal skills making them employable. More fundamental to job creation is a vibrant economy, in which investment and consumption fuel demand for labour, skilled and unskilled. We did see this happen, for instance, between 2004-05 and 2011-12. During that period, an estimated 52 million non-farm jobs were created, nearly half in construction and the rest in the services and manufacturing sectors. Today's crisis is not one of employability, but of investment and economic activity leading to shrinking job opportunities, whether for IT service professionals, draughtsmen, masons or fitters.

The problem with PMKVY is not its poor job placement record. The question to ask is whether a scheme of this kind — seeking to impart industry-relevant skill training to 10 million youth over four years (2016-2020), largely through private accredited "training partners" and with the Centre meeting the entire fee expenses — is required at all. Ideally, the government's focus should be on providing decent education. That would mean ensuring minimum standards in schools, colleges, polytechnics and industrial training institutes (ITI). If just over 43 per cent of class VIII students in rural government schools can solve three-digit by one-digit division problems and only 45 per cent are able to read simple sentences in English — as the NGO Pratham's Annual State of Education Report for 2016 reveals — that's what needs fixing. Training of broadband and mobile handset repair technicians, CNC machine operators, customer care executives, air hostesses or beauticians are better left to the private sector. The Rs 12,000-

crore outlay for PMKVY — mainly towards training modules of 150-300 hours duration, whose utility is doubtful — can instead be used to beef up the infrastructure and course content in 2,284 government ITIs.